

Chapter चौदह

भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव से योग-वर्णन

इस अध्याय में कृष्ण बतलाते हैं कि भगवद्भक्ति सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक विधि है। वे ध्यान के विषय में भी बतलाते हैं।

श्री उद्धव ने यह जानना चाहा कि आध्यात्मिक प्रगति की कौन-सी विधि सर्वश्रेष्ठ है। वे किसी बाह्य मन्तव्य से मुक्त भक्ति की सर्वोत्कृष्टता के विषय में भी सुनना चाहते थे। भगवान् ने बतलाया कि वेदों में बतलाई गई मौलिक धर्म-विधि प्रलय के समय लुप्त हो गई। अतः नवीन सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् ने पुनः ब्रह्मा को वह विधि बतलायी। ब्रह्मा ने इसे मनु से कहा और मनु ने भृगु इत्यादि मुनियों से कहा। इन मुनियों ने इस नित्य धर्म की शिक्षा देवताओं तथा असुरों को दी। जीवों की असंख्य विभिन्न इच्छाओं के कारण, यह धर्म की विधि अनेक प्रकारों से व्याख्यायित हुई। इस तरह अनेक दर्शनों का जन्म हुआ, जिनमें विविध नास्तिक सिद्धान्त भी सम्मिलित हैं। चूँकि जीव माया से विमोहित होने से, अपने शाश्वत लाभ को निश्चित नहीं कर पाता, अतएव वह तपस्या इत्यादि के सामान्य व्रतों को गलती से सर्वोच्च आध्यात्मिक अभ्यास मान लेता है। किन्तु सुख प्राप्त करने का एकमात्र सच्चा साधन है परमेश्वर को हर वस्तु अर्पित करने पर ध्यान करना है। इस प्रकार वह भौतिक इन्द्रिय-विषयों के भोग द्वारा स्वार्थमय तृप्ति के लिए समस्त इच्छाओं से मुक्त हो जाता है और वह भोग या मोक्ष की सारी

लालसाओं से छूट जाता है।

इसके बाद भगवान् भक्ति की श्रेष्ठ विधि का वर्णन करते हैं, जो असंख्य पापकर्मों को नष्ट करती है और आध्यात्मिक सुख के लक्षणों को—यथा रोमांच को—उत्पन्न करती है। शुद्ध भक्ति में हृदय को शुद्ध करने की शक्ति होती है। यह भगवान् की संगति प्राप्त करने में समर्थ बनाती है। चूँकि भक्त भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है और सदैव उनके निकट रहता है, इसलिए वह आगे समूचे ब्रह्माण्ड को शुद्ध कर सकता है। अविचल भगवद्भक्ति के कारण, भक्त कभी भी इन्द्रिय-भोग के विषयों की ओर उन्मुख नहीं होता, चाहे वह प्रारम्भ में अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण न कर सकता हो। जो व्यक्ति जीवन-सिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक हो, उसे ऊपर उठने के सभी भौतिक उपाय तथा स्त्रियों की संगति छोड़ देनी चाहिए। तब उसे अपना मन कृष्ण के विचार में लगातार लीन करना चाहिए। अन्त में, भगवान् ने श्री उद्धव को ध्यान की सही वस्तु का उपदेश दिया।

श्रीउद्धव उवाच

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः ।

तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; वदन्ति—कहते हैं; कृष्ण—हे कृष्ण; श्रेयांसि—जीवन में प्रगति की विधियाँ; बहूनि—अनेक; ब्रह्म-वादिनः—विद्वान् मुनि जिन्होंने वैदिक वाङ्मय की व्याख्या की है; तेषाम्—ऐसी सारी विधियों का; विकल्प—नाना प्रकार की अनुभूतियों की; प्राधान्यम्—श्रेष्ठता; उत—अथवा; अहो—निस्सन्देह; एक—एक की; मुख्यता—प्रधानता।

श्री उद्धव ने कहा : हे कृष्ण, वैदिक वाङ्मय की व्याख्या करने वाले विद्वान् मुनिगण मनुष्य-जीवन की सिद्धि के लिए अनेक विधियों की संस्तुति करते हैं। हे प्रभु, इन नाना प्रकार के दृष्टिकोणों पर विचार करते हुए आप मुझे बतलायें कि ये सारी विधियाँ समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं अथवा उनमें से कोई एक सर्वश्रेष्ठ है।

तात्पर्य : भक्तियोग के उच्च पद को स्पष्ट रूप से स्थापित करने के उद्देश्य से श्री उद्धव भगवान् कृष्ण से अनुरोध करते हैं कि आत्म-साक्षात्कार की समस्त विधियों में जो सर्वश्रेष्ठ हो, उसकी पहचान बतायें। सारी वैदिक विधियों से परम लक्ष्य अर्थात् शुद्ध भगवत्प्रेम प्राप्त नहीं होता। कुछ केवल धीरे धीरे जीव की चेतना को उपर उठाती हैं। आत्म-साक्षात्कार की विधि की सामान्य रूपरेखा बतलाने के लिए मुनिगण ऊपर उठने की तमाम विधियों की विवेचना कर सकते हैं। किन्तु जब सर्वश्रेष्ठ विधि को

निश्चित करने का अवसर आता है, तो गौण विधियों को रास्ते से दूर कर देना चाहिए।

भवतोदाहृतः स्वामिन्भक्तियोगोऽनपेक्षितः ।

निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

भवता—आपके द्वारा; उदाहृतः—स्पष्ट कहा गया; स्वामिन्—हे स्वामी; भक्ति-योगः—भक्ति; अनपेक्षितः—भौतिक इच्छाओं से रहित; निरस्य—हटाकर; सर्वतः—सभी तरह से; सङ्गम्—संगति; येन—जिस (भक्ति) से; त्वयि—आपमें; आविशेत्—प्रवेश कर सके; मनः—मन।

हे प्रभु, आपने शुद्ध भक्तियोग की स्पष्ट व्याख्या कर दी है, जिससे भक्त अपने जीवन से सारी भौतिक संगति हटाकर, अपने मन को आप पर एकाग्र कर सकता है।

तात्पर्य : अब यह भलीभाँति स्थापित हो चुका है कि परब्रह्म भगवान् कृष्ण में मन एकाग्र करने के लिए शुद्ध भक्ति ही सर्वोत्तम विधि है। अगली बात जिसका स्पष्टीकरण किया जाना है, वह है—क्या इस विधि को हर एक व्यक्ति अपना सकता है या यह केवल कुछ ही विशिष्ट अध्यात्मवादियों के लिए है? विभिन्न आध्यात्मिक विधियों के सापेक्ष लाभों की व्याख्या करते समय, आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य को सुनिश्चित करके, उस विधि को अलग कर लेना चाहिए जिससे यह लक्ष्य प्राप्त हो सके। तब इन विधियों को इनके मुख्य तथा गौण कार्यों के अनुसार परिभाषित करना चाहिए। जिससे सर्वोच्च सिद्धि मिल सके, वह मुख्य विधि है और जो विधि मुख्य विधि में सहायक हो या उसमें संवर्धन करे वह गौण विधि है। मन अत्यन्त चलायमान और अस्थिर है, अतएव मनुष्य को चाहिए कि अपने को शुद्ध बुद्धि से प्रगतिशील जीवन-शैली में स्थिर कर ले। इस तरह से वह इसी जीवन में परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। श्री उद्धव से कृष्ण की वार्ता का यह गम्भीर प्रयोजन है।

श्रीभगवानुवाच

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ।

मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; कालेन—काल के प्रभाव से; नष्टा—विनष्ट; प्रलये—प्रलय के समय; वाणी—सन्देश; इयम्—यह; वेद-संज्ञिता—वेदों से युक्त; मया—मेरे द्वारा; आदौ—सृष्टि के समय; ब्रह्मणे—ब्रह्मा से; प्रोक्ता—कहा गया; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; यस्याम्—जिसमें; मत्-आत्मकः—मुझसे अभिन्न।

भगवान् ने कहा : काल के प्रभाव से प्रलय के समय वैदिक ज्ञान की दिव्य ध्वनि नष्ट हो गई थी। अतएव जब फिर से सृष्टि बनी, तो मैंने यह वैदिक ज्ञान ब्रह्मा को बतलाया क्योंकि मैं ही

वेदों में वर्णित धर्म हूँ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उद्धव को बतलाते हैं कि यद्यपि वेदों में आध्यात्मिक साक्षात्कार की अनेक विधियों एवं विचारों का वर्णन हुआ है, किन्तु वेद अन्ततोगत्वा भगवद्भक्ति की ही संस्तुति करते हैं। भगवान् कृष्ण समस्त आनन्द के आगार हैं और उनके भक्तगण सीधे उनकी ह्लादिनी शक्ति में प्रवेश करते हैं। मनुष्य को जिस-तिस तरह अपने मन को भगवान् कृष्ण में एकाग्र करना है और भक्ति के बिना यह सम्भव नहीं। जिसने भगवान् कृष्ण के प्रति अनुराग उत्पन्न नहीं किया है, वह अपनी इन्द्रियों को ओछे कार्यों में लगने से रोक नहीं सकता। चूँकि अन्य वैदिक विधियों से अभ्यासकर्ता को भगवान् कृष्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतएव वेद जीवन का सर्वोच्च लाभ नहीं दिला सकते। वेदों की दिव्य ध्वनि अपने में सर्वोच्च प्रमाण है, किन्तु जिसकी इन्द्रियाँ तथा मन इन्द्रियतृप्ति तथा मानसिक चिन्तन में लगे हुए हों और जिसका हृदय भौतिक धूल से धूसरित हो, वह प्रत्यक्ष रूप से दिव्य वैदिक सन्देश प्राप्त नहीं कर सकता। इस तरह वह भगवद्भक्ति के उच्च पद को समझ नहीं सकता।

तेन प्रोक्ता स्वपुत्राय मनवे पूर्वजाय सा ।

ततो भृगवादयोऽगृह्णन्सप्त ब्रह्ममहर्षयः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तेन—ब्रह्मा द्वारा; प्रोक्ता—कहा गया; स्व-पुत्राय—अपने पुत्र से; मनवे—मनु को; पूर्व-जाय—सबसे पुराने; सा—वह वैदिक ज्ञान; ततः—मनु से; भृगु-आदयः—भृगु मुनि इत्यादि ने; अगृह्णन्—ग्रहण किया; सप्त—सात; ब्रह्म—वैदिक ज्ञान में; महा-ऋषयः—परम विद्वान् मुनियों ने।

ब्रह्मा ने यह वैदिक ज्ञान अपने ज्येष्ठ पुत्र मनु को दिया और तब भृगु मुनि इत्यादि सप्त ऋषियों ने वही ज्ञान मनु से ग्रहण किया।

तात्पर्य : हर मनुष्य अपने स्वभाव तथा लालसाओं के अनुसार एक जीवन-शैली अपनाता है। भक्तियोग उसका एक सहज कृत्य है, जिसका स्वभाव भगवान् की संगति से पूरी तरह शुद्ध हुआ रहता है। अन्य विधियाँ उन लोगों के लिए हैं जिनका स्वभाव अभी तक भौतिक गुणों से प्रभावित रहता है और ऐसी विधियाँ तथा उनके फल भौतिक रूप से दूषित होते हैं। किन्तु भगवद्भक्ति एक शुद्ध आध्यात्मिक विधि है और शुद्ध चेतना से भक्ति करने पर, मनुष्य भगवान् के सीधे सम्पर्क में आता है, जो अपने आपको *भगवद्गीता* (९.२) में *पवित्रम् इदम् उत्तमम्* अर्थात् परम पवित्र बताते हैं। इस श्लोक में तथा पिछले श्लोक में *परम्परा* प्रणाली का वर्णन हुआ है। चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन के

गुरुजन ऐसी परम्परा के अंग हैं और ब्रह्मा द्वारा मनु से कहा गया वैदिक ज्ञान आज भी उसी परम्परा से उपलब्ध होता है।

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः ।
 मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः ॥ ५ ॥
 किन्देवाः किन्नरा नागा रक्षःकिम्पुरुषादयः ।
 बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः ॥ ६ ॥
 याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां पतयस्तथा ।
 यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनसे (भृगु मुनि इत्यादि से); पितृभ्यः—पूर्वजों से; तत्—उनके; पुत्राः—पुत्र, उत्तराधिकारीगण; देव—देवता; दानव—असुर; गुह्यकाः—गुह्यकजन; मनुष्याः—मनुष्य; सिद्ध-गन्धर्वाः—सिद्धजन तथा गन्धर्वगण; स-विद्याधर-चारणाः—विद्याधरों तथा चारणों सहित; किन्देवाः—एक भिन्न मानव जाति; किन्नराः—अर्द्ध मानव; नागाः—सर्प; रक्षः—राक्षस; किम्पुरुष—वानरों की उन्नत नस्ल; आदयः—इत्यादि; बह्व्यः—अनेक प्रकार के; तेषाम्—ऐसे जीवों के; प्रकृतयः—स्वभावों या इच्छाओं; रजः-सत्त्व-तमः-भुवः—तीन गुणों से उत्पन्न होने से; याभिः—ऐसी इच्छाओं या प्रवृत्तियों से; भूतानि—ऐसे सारे जीव; भिद्यन्ते—अनेक रूपों में बँटे प्रतीत होते हैं; भूतानाम्—तथा उनके; पतयः—नेता; तथा—उसी प्रकार से विभक्त; यथा-प्रकृति—लालसा या इच्छा के अनुसार; सर्वेषाम्—उन सबों का; चित्राः—विचित्र; वाचः—वैदिक अनुष्ठान तथा मंत्र; स्रवन्ति—निकलते हैं; हि—निश्चय ही।

भृगु मुनि तथा ब्रह्मा के अन्य पुत्रों जैसे पूर्वजों से अनेक पुत्र तथा उत्तराधिकारी उत्पन्न हुए, जिन्होंने देवताओं, असुरों, मनुष्यों, गुह्यकों, सिद्धों, गन्धर्वों, विद्याधरों, चारणों, किन्देवों, किन्नरों, नागों, किम्पुरुषों इत्यादि के विभिन्न रूप धारण किये। सभी विश्वव्यापी जातियाँ तथा उनके अपने अपने नेता, तीन गुणों से उत्पन्न विभिन्न स्वभाव तथा इच्छाएँ लेकर प्रकट हुए। इसलिए ब्रह्माण्ड में जीवों के विभिन्न लक्षणों के कारण न जाने कितने अनुष्ठान, मंत्र तथा फल हैं।

तात्पर्य : यदि कोई यह जानने का इच्छुक हो कि वेदों में पूजा तथा उन्नति की इतनी सारी विधियाँ क्यों संस्तुत की गई हैं, तो उसका उत्तर यहाँ पर मिलेगा। भृगु, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह तथा क्रतु—ये सात इस ब्रह्माण्ड के महान् ब्रह्मर्षि और पूर्वज हैं। किन्देव एक प्रकार की मनुष्य जाति है, जो देवताओं की तरह थकान, पसीना तथा शरीर की गन्ध से पूर्णरूपेण रहित होती हैं। उन्हें देख कर यह प्रश्न किया जा सकता है कि देवाः—क्या ये देवता हैं? वास्तव में ये ब्रह्माण्ड के किसी अन्य लोक में रहने वाले मानव प्राणी हैं। किन्नर नाम इसलिए पड़ा क्योंकि वे किञ्चिन् नराः अर्थात् “थोड़ा-

सा मनुष्यों की तरह'' हैं। किन्नरों के या तो मनुष्य का सिर होता है या मनुष्य-शरीर (परन्तु दोनों नहीं) किन्तु इसके साथ अमनुष्य रूप भी मिला रहता है। किम्पुरुष मनुष्यों जैसे होते हैं अतएव यह प्रश्न किया जा सकता है किं पुरुषाः—क्या ये मनुष्य हैं? वस्तुतः ये बन्दरों की जाति हैं, जो प्रायः मनुष्यों जैसे होते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि इस श्लोक में भगवान् की नाना प्रकार की विस्मृति का वर्णन हुआ है। विभिन्न वैदिक मंत्र तथा अनुष्ठान ब्रह्माण्ड-भर के बुद्धिमान जीवों की विविध जातियों के निमित्त हैं किन्तु वैदिक आदेशों की प्रचुर उत्पत्ति केवल भौतिक माया की द्योतक है और इनसे परम लक्ष्य की विविधता का पता नहीं लगता। अनेक वैदिक आदेशों का परम उद्देश्य एक ही है कि भगवान् को जाना जाय और उनसे प्रेम किया जाय। इस बात को स्वयं भगवान् उद्धव से बलपूर्वक कह रहे हैं।

एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम् ।
पारम्पर्येण केषाञ्चित्पाषण्डमतयोऽपरे ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रकृति—स्वभाव या इच्छाओं के; वैचित्र्यात्—विविधता के कारण; भिद्यन्ते—विभक्त हैं; मतयः—जीवन-दर्शन; नृणाम्—मनुष्यों में; पारम्पर्येण—परम्परा से; केषाञ्चित्—कुछ लोगों में; पाषण्ड—नास्तिक; मतयः—दर्शन; अपरे—अन्य।

इस तरह मनुष्य के बीच नाना प्रकार की इच्छाओं तथा स्वभावों के कारण जीवन के अनेकानेक आस्तिक दर्शन हैं, जो प्रथा, रीति-रिवाज तथा परम्परा द्वारा हस्तान्तरित होते रहते हैं। ऐसे भी शिक्षक हैं, जो नास्तिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

तात्पर्य : केषाञ्चित् संसार के विभिन्न भागों के उन लोगों का द्योतक है, जो वैदिक निष्कर्ष से अनजान हैं और अनेक अवैध तथा व्यर्थ के दर्शन गढ़ते रहते हैं। पाषण्डमतयः उनका सूचक है, जो वैदिक निष्कर्ष के विरोधी हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने एक अत्यन्त रोचक उदाहरण दिया है, जो इस प्रकार है—गंगाजल सदैव शुद्ध तथा अत्यन्त मीठा होता है। किन्तु गंगा नदी के तट पर अनेक विषैले वृक्ष होते हैं जिनकी जड़ें मिट्टी से गंगाजल को सोख कर उसे विषैले फल उत्पन्न करने के काम में लाती हैं। इसी तरह जो नास्तिक या आसुरी हैं, वे वैदिक ज्ञान की संगति का उपयोग नास्तिक या भौतिकतावादी दर्शन के विषैले फल उत्पन्न करने में करते हैं।

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मत्-मया—मेरी माया से; मोहित—मोहग्रस्त; धियः—बुद्धि वाले; पुरुषाः—मनुष्य; पुरुष-ऋषभ—हे पुरुष-श्रेष्ठ; श्रेयः—लोगों के लिए शुभ; वदन्ति—कहते हैं; अनेक-अन्तम्—अनेक प्रकार से; यथा-कर्म—अपने अपने कर्मों के अनुसार; यथा-रुचि—अपनी अपनी रुचि के अनुसार।

हे पुरुष-श्रेष्ठ, मनुष्यों की बुद्धि मेरी माया से मोहग्रस्त हो जाती है अतएव वे, अपने कर्मों तथा अपनी रुचियों के अनुसार, मनुष्यों के लिए जो वास्तव में शुभ है, उसके विषय में असंख्य प्रकार से बोलते हैं।

तात्पर्य : जीव भगवान् की तरह सर्वज्ञ नहीं होता अतएव उसके कार्य तथा उसके आनन्द पूर्ण सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते। अपने अपने कर्मों (यथा-कर्म) तथा अपनी अपनी रुचियों (यथा-रुचि) के अनुसार ही मनुष्य दूसरों से कहता है कि उनके लिए क्या शुभ है। हर व्यक्ति सोचता है, “जो मेरे लिए शुभ है, वही हर एक के लिए शुभ है।” वस्तुतः भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करना और इस तरह अपने आनन्द तथा ज्ञान को ठीक से अनुभव करना सबसे अच्छी बात है। परब्रह्म के ज्ञान के बिना, अनेक तथाकथित विद्वानजन अन्य सनकी लोगों को उपदेश देते हैं, जिन्हें जीवन के वास्तविक लक्ष्य का पूरा ज्ञान नहीं होता।

धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम् ।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम् ।
केचिद्यज्ञं तपो दानं व्रतानि नियमान्यमान् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

धर्मम्—पुण्यकर्म; एके—कुछ लोग; यशः—ख्याति; च—भी; अन्ये—अन्य लोग; कामम्—इन्द्रियतृप्ति; सत्यम्—सत्य; दमम्—आत्मसंयम; शमम्—शान्तिप्रियता; अन्ये—अन्य लोग; वदन्ति—स्थापना करते हैं; स्व-अर्थम्—आत्म-हित या स्वार्थ का अनुसरण करना; वै—निश्चय ही; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य या राजनीतिक प्रभाव; त्याग—त्याग; भोजनम्—भोग; केचित्—कुछ लोग; यज्ञम्—यज्ञ; तपः—तपस्या; दानम्—दान; व्रतानि—व्रत रखना; नियमान्—नियमित धार्मिक कृत्य; यमान्—कठोर विधियों को।

कुल लोग कहते हैं कि पुण्यकर्म करके सुखी बना जा सकता है। अन्य लोग कहते हैं कि सुख को यश, इन्द्रियतृप्ति, सच्चाई, आत्मसंयम, शान्ति, स्वार्थ, राजनीति का प्रभाव, ऐश्वर्य, संन्यास, भोग, यज्ञ, तपस्या, दान, व्रत, नियमित कृत्य या कठोर अनुशासन द्वारा प्राप्त किया जा

सकता है। हर विधि के अपने अपने समर्थक होते हैं।

तात्पर्य : धर्मम् एके उन नास्तिक दार्शनिकों का द्योतक है जिन्हें कर्ममीमांसक कहते हैं—जो यह कहते हैं कि हमें ईश्वर के धाम के विषय में चिन्ता करने में समय नहीं गँवाना चाहिए क्योंकि किसी ने न तो उसे देखा है न ही कोई वहाँ से लौटा है। प्रत्युत, उसे कुशलतापूर्वक कर्म के नियमों को उपयोग में लाना चाहिए और सकाम कर्मों को इस प्रकार करना चाहिए जिससे वह सदैव भलीभाँति स्थित रहे। यश के बारे में यह कहा जाता है कि जब तक मनुष्य के यश का गायन पुण्य-लोकों में किया जाता है, तब तक वह स्वर्ग में हजारों वर्षों तक रह सकता है। कामम् काम-सूत्र तथा यौन-सुख के बारे में शिक्षा देने वाली लाखों आधुनिक पुस्तकों को बताता है। कुछ लोग कहते हैं कि जीवन का सर्वोच्च गुण ईमानदारी है, अन्य लोग आत्मसंयम, मनःशान्ति इत्यादि को बतलाते हैं। हर दृष्टिकोण के समर्थक तथा शास्त्र हैं। कुछ लोग कहते हैं कि कानून, व्यवस्था तथा नैतिकता ही सर्वोच्च अच्छाई है, जबकि कुछ अन्य लोग प्रस्ताव रखते हैं कि राजनीतिक प्रभाव मनुष्य का असली स्वार्थ है। कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि जरूरतमन्द को अपनी भौतिक सम्पत्ति दे दें, कुछ कहते हैं कि जहाँ तक सम्भव हो सके इस जीवन का भोग किया जाय तथा अन्य लोग नित्य कर्म, अनुशासनिक व्रत, तपस्या इत्यादि की संस्तुति करते हैं।

आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः ।

दुःखोदकास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रा मन्दाः शुचार्पिताः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आदि-अन्त-वन्तः—आदि तथा अन्त रखने वाला; एव—निस्सन्देह; एषाम्—उनका (भौतिकतावादियों का); लोकाः—अर्जित उपाधियों; कर्म—किसी के भौतिक कर्म द्वारा; विनिर्मिताः—उत्पन्न; दुःख—दुख; उदकाः—भावी फल के रूप में; तमः—अज्ञान; निष्ठाः—स्थित; क्षुद्राः—नगण्य; मन्दाः—दुखी; शुचा—शोक से युक्त; अर्पिताः—पूरित।

अभी मैंने जिन सारे पुरुषों का उल्लेख किया है वे अपने अपने भौतिक कर्म के क्षणिक फल प्राप्त करते हैं। निस्सन्देह, वे जिन नगण्य तथा दुखमय स्थितियों को प्राप्त होते हैं, उनसे भावी दुख मिलता है और वे अज्ञान पर आधारित हैं। अपने कर्मफलों का भोग करते हुए भी, ऐसे व्यक्ति शोक से पूरित हो जाते हैं।

तात्पर्य : जो लोग क्षणिक भौतिक वस्तुओं को परम सत्य मान कर पकड़ते हैं, उन्हें कोई भी, स्वयं उनके अतिरिक्त, बुद्धिमान नहीं मानता। ऐसे मूर्ख लोग सदैव चिन्ता से घिरे रहते हैं क्योंकि

प्रकृति के नियमों द्वारा उनके कर्मफल अनिच्छित या अपेक्षित विधियों से रूपान्तरित होते रहते हैं। वैदिक कर्मकाण्डों का कर्ता स्वर्गलोक जा सकता है किन्तु नास्तिक तो नरक का भागी बनता है। संसार का पूरा दृश्य अरोचक तथा मन्द (मन्दाः) होता है। भौतिक जगत में असली प्रगति नहीं की जा सकती; इसलिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए और भगवद्धाम जाने की तैयारी करनी चाहिए।

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः ।

मयात्मना सुखं यत्तत्कृतः स्याद्विषयात्मनाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; अर्पित—स्थिर; आत्मनः—चेतना वाले का; सभ्य—हे विद्वान् उद्भव; निरपेक्षस्य—निष्काम व्यक्ति का; सर्वतः—सभी प्रकार से; मया—मेरे साथ; आत्मना—भगवान् के साथ या अपने आध्यात्मिक शरीर के साथ; सुखम्—सुख; यत् तत्—ऐसा; कुतः—कैसे; स्यात्—हो सकता है; विषय—भौतिक इन्द्रियतृप्ति में; आत्मनाम्—अनुरक्तों का।

हे विद्वान् उद्भव, जो लोग समस्त भौतिक इच्छाएँ त्याग कर, अपनी चेतना मुझमें स्थिर करते हैं, वे मेरे साथ उस सुख में हिस्सा बँटाते हैं, जिसे इन्द्रियतृप्ति में संलग्न मनुष्यों के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : इस श्लोक में वैदिक ज्ञान का वास्तविक तात्पर्य बतलाया गया है। विषयात्मनाम् के अन्तर्गत मन की भौतिक शान्ति, आत्मसंयम तथा शुष्क दर्शन का अनुशीलन करने वाले सम्मिलित हैं। किन्तु ऐसे लोग सत्त्व गुण को प्राप्त कर लेने पर भी, सिद्धि नहीं पाते क्योंकि सत्त्व गुण, भौतिक होने से, माया का अंश है। जैसाकि श्री नारद मुनि ने कहा है—

किं वा योगेन सांख्येन न्यास स्वाध्याययोरपि ।

किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥

“ भगवान् अपने आप को योग, शुष्क दर्शन, वैराग्य या वेदाध्ययन करने वाले को भी अर्पित करने के लिए तैयार नहीं होते। निस्सन्देह, कोई भी तथाकथित भौतिक मंगलकारी विधि भगवान् को प्रकट होने के लिए प्रेरित नहीं कर सकती।” (भागवत ४.३१.१२) श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार कोई व्यक्ति अपने आध्यात्मिक शरीर से भगवान् के परम दिव्य स्वरूप का सान्निध्य प्राप्त करके, इस श्लोक में कहे गये सुख को पाता है। भगवान् का दिव्य स्वरूप अनन्त, अद्भुत गुणों से पूरित है और भगवान् के साथ रहने का सुख असीम है। दुर्भाग्यवश भौतिकतावादी लोग ऐसे सुख की कल्पना भी नहीं कर

सकते, क्योंकि वे भगवान् से प्रेम करने की ओर रंच-भर भी उन्मुख नहीं होते ।

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।

मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अकिञ्चनस्य—कुछ न चाहने वाले का; दान्तस्य—इन्द्रियों पर संयम रखने वाले का; शान्तस्य—शान्त रहने वाले का; सम-चेतसः—समान चेतना वाले का; मया—मुझसे; सन्तुष्ट—पूर्णतया सन्तुष्ट; मनसः—मन वाले; सर्वाः—सभी; सुख-मयाः—सुख से पूर्ण; दिशः—दिशाएँ।

जो इस जगत में कुछ भी कामना नहीं करता, जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में करके शान्ति प्राप्त कर ली है, जिसकी चेतना सभी परिस्थितियों में एक-सी रहती है तथा जिसका मन मुझमें पूर्णतया तुष्ट रहता है, वह जहाँ कहीं भी जाता है उसे सुख ही सुख मिलता है।

तात्पर्य : जो भक्त निरन्तर भगवान् कृष्ण का ध्यान करता रहता है उसे भगवान् की लीलाओं में दिव्य ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा सुगन्ध का अनुभव होता है। ये दिव्य अनुभूतियाँ निश्चय ही उस व्यक्ति पर भगवान् कृष्ण की अहैतुकी कृपा से उत्पन्न होती हैं जिनसे उसका मन तथा इन्द्रिय पूर्णतया तुष्ट रहते हैं। ऐसा व्यक्ति जहाँ भी जाता है उसे सुख ही सुख मिलता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उस धनी व्यक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जो यात्रा के दौरान जहाँ भी ठहरता है, विलासमय जीवन बिताता है। इसी तरह जिस व्यक्ति में कृष्णभावनामृत उत्पन्न हो जाता है, वह कभी भी सुख से वंचित नहीं होता, क्योंकि भगवान् कृष्ण सर्वव्यापी हैं। किञ्चन् शब्द इस जगत की तथाकथित भोग्य वस्तुओं का सूचक है। अकिञ्चन व्यक्ति ठीक से जानता है कि इन्द्रियतृप्ति केवल माया की चमक है अतएव ऐसा व्यक्ति दान्तस्य, शान्तस्य तथा सन्तुष्ट-मनसः होता है।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्यं

न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा

मय्यर्पितात्मेच्छति मद्दिनान्यत् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; पारमेष्ठ्यम्—ब्रह्मा का पद या धाम; न—कभी नहीं; महा-इन्द्र-धिष्यम्—इन्द्र का पद; न—न तो; सार्वभौमम्—पृथ्वी पर साम्राज्य; न—न ही; रस-आधिपत्यम्—निम्न लोकों में सर्वश्रेष्ठता; न—कभीनहीं; योग-सिद्धीः—आठ योग-सिद्धियाँ; अपुनः-भवम्—मोक्ष; वा—न तो; मयि—मुझमें; अर्पित—स्थिर; आत्मा—चेतना; इच्छति—वह चाहता है; मत्—मुझको; विना—बिना; अन्यत्—अन्य कोई वस्तु।

जिसने अपनी चेतना मुझमें स्थिर कर रखी है, वह न तो ब्रह्मा या इन्द्र के पद या उनके धाम की कामना करता है, न इस पृथ्वी के साम्राज्य, न निम्न लोकों की सर्वश्रेष्ठता, न योग की आठ सिद्धियों की, न जन्म-मृत्यु से मोक्ष की कामना करता है। ऐसा व्यक्ति एकमात्र मेरी कामना करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अकिञ्चन* शुद्ध भक्त के पद का वर्णन हुआ है। श्री प्रियव्रत महाराज ऐसे महान् भक्त के उदाहरण हैं, जो सार्वभौम सत्ता में तनिक भी रुचि नहीं रखते थे क्योंकि उनका प्रेम पूर्णतया भगवान् के चरणकमलों में लीन था। शुद्ध भगवद्भक्त के लिए बड़ा से बड़ा भौतिक भोग तुच्छ तथा व्यर्थ प्रतीत होता है।

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।

न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उसी प्रकार से; मे—मुझको; प्रिय-तमः—सर्वाधिक प्रिय; आत्म-योनिः—मेरे शरीर से उत्पन्न, ब्रह्मा; न—न तो; सङ्करः—शिवजी; न—न तो; च—भी; सङ्कर्षणः—मेरा स्वांश संकर्षण; न—न तो; श्रीः—लक्ष्मीजी; न—न तो; एव—निश्चय ही; आत्मा—अर्चाविग्रह के रूप में मेरी आत्मा; च—भी; यथा—जितना कि; भवान्—तुम।

हे उद्धव, न तो ब्रह्मा, शिव, संकर्षण, लक्ष्मीजी, न ही मेरी आत्मा ही मुझे इतने प्रिय हैं जितने कि तुम हो।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् ने अपने प्रति शुद्ध भक्तों के शुद्ध प्रेम का वर्णन किया है। अब वे अपने भक्तों के प्रति अपने प्रेम का वर्णन करते हैं। *आत्म-योनि* का अर्थ है ब्रह्मा, जो कि सीधे भगवान् के शरीर से उत्पन्न हैं। शिवजी भगवान् कृष्ण का निरन्तर ध्यान करने से कृष्ण को परम आनन्द प्रदान करते हैं और संकर्षण या बलराम तो कृष्ण-लीला में उनके भाई हैं। लक्ष्मी उनकी पत्नी हैं। *आत्मा* शब्द यहाँ पर अर्चाविग्रह रूप में स्वयं भगवान् का सूचक है। इनमें से कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि भगवान् की आत्मा भी, भगवान् को उतना प्रिय नहीं है जितना कि उनका शुद्ध भक्त उद्धव है, जो भगवान् के *अकिञ्चन* भक्त हैं। श्रील मध्वाचार्य ने वैदिक वाङ्मय से एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है, जिसमें एक व्यक्ति गरीब भिखारी को दान देने के लिए अपने तथा अपने बच्चों के हित की उपेक्षा कर देता है। इसी तरह भगवान् उस असहाय भक्त को वरीयता प्रदान करते हैं, जो उनकी कृपा पर ही अवलम्बित रहता है। भगवान् की कृपा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है उनके प्रति अहैतुक प्रेम और

भगवान् उन भक्तों की ओर प्रेम में विशेष उन्मुख रहते हैं, जो उन पर सर्वाधिक आश्रित रहते हैं, जिस प्रकार कि माता-पिता अपने असहाय बच्चों की चिन्ता आत्म-निर्भर बच्चों की अपेक्षा अधिक करते हैं। अतः यदि किसी में किसी भौतिक गुण का अभाव भी हो, तो उसे निःस्वार्थ भाव से भगवान् पर ही निर्भर रहना चाहिए। इससे उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि अवश्यमेव प्राप्त होगी।

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

निरपेक्षम्—निजी इच्छा से रहित; मुनिम्—मेरी लीलाओं में मेरी सहायता करने के ही विचार में मग्न; शान्तम्—शान्त;
निर्वैरम्—किसी से बैर न रखते हुए; सम-दर्शनम्—सर्वत्र एकसमान चेतना; अनुव्रजामि—अनुसरण करता हूँ; अहम्—मैं;
नित्यम्—सदैव; पूयेय—शुद्ध होऊँ; इति—इस प्रकार; अङ्घ्रि—चरणकमलों की; रेणुभिः—धूल से।

मैं अपने भक्तों के चरणकमलों की धूल से अपने भीतर स्थित भौतिक जगतों को शुद्ध बनाना चाहता हूँ। इसलिए मैं सदैव अपने उन शुद्ध भक्तों के पदचिह्नों का अनुसरण करता हूँ जो निजी इच्छाओं से रहित हैं, जो मेरी लीलाओं के विचार में मग्न रहते हैं, शान्त हैं, शत्रुभाव से रहित हैं तथा सर्वत्र समभाव रखते हैं।

तात्पर्य : जिस तरह भक्तगण सदैव भगवान् कृष्ण के पदचिह्नों का अनुसरण करते हैं, उसी तरह भगवान् कृष्ण, अपने भक्तों के भक्त होने के कारण, उन भक्तों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हैं। भगवान् का शुद्ध सेवक सदैव भगवान् की लीलाओं का ध्यान करता है और यह सोचता रहता है कि उनके उद्देश्य में उन्हें किस तरह सहायता पहुँचाई जाय। सारे ब्रह्माण्ड श्रीकृष्ण के शरीर के भीतर स्थित हैं, जैसाकि उन्होंने अर्जुन, माता यशोदा तथा अन्यो को प्रदर्शित किया है। चूँकि कृष्ण भगवान् हैं अतएव उनमें किसी प्रकार के कल्मष होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी भगवान् अपने शुद्ध भक्तों के चरणकमलों की धूल लेकर अपने भीतर स्थित ब्रह्माण्डों को शुद्ध करना चाहते हैं। भक्तों के चरणकमलों की धूल लिए बिना, शुद्ध भक्ति में लग पाना सम्भव नहीं और शुद्ध भक्ति के बिना दिव्य आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कियाजा सकता। भगवान् कृष्ण ने सोचा, “मैंने यह कठोर नियम बना रखा है कि कोई भी व्यक्ति मेरे भक्तों के चरणकमलों की धूल से प्राप्त भक्ति के द्वारा ही मेरे दिव्य आनन्द का भोग कर सकता है। चूँकि मैं भी अपना आनन्द अनुभव करना चाहता हूँ, इसलिए मैं आदर्श विधि का पालन करूँगा और अपने भक्तों के चरणकमलों की धूल ग्रहण करूँगा।” श्रील

मध्वाचार्य इंगित करते हैं कि भगवान् कृष्ण अपने भक्तों के पदचिह्नों का अनुसरण उन्हें शुद्ध बनाने के लिए ही करते हैं। जब भगवान् अपने भक्तों के पीछे पीछे चलते हैं, तो वायु भगवान् की चरण-धूलि को उनके भक्तों के सामने उड़ाकर ले जाती है और वे इस दिव्य धूल का स्पर्श पाकर शुद्ध बन जाते हैं। किसी को मूर्खतावश भगवान् की इन दिव्य लीलाओं के विषय में तर्क नहीं करना चाहिए। यह तो भगवान् तथा उनके भक्तों के मध्य प्रेम का प्रश्न है।

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः

शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।

कामैरनालब्धधियो जुषन्ति ते

यन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

निष्किञ्चनाः—इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रहित; मयि—मुझ भगवान् में; अनुरक्त-चेतसः—निरन्तर अनुरक्त मन; शान्ताः—शान्त; महान्तः—मिथ्या अभिमान से रहित महान् आत्माएँ; अखिल—समस्त; जीव—जीवों के प्रति; वत्सलाः—स्नेहिल शुभचिन्तक; कामैः—इन्द्रियतृप्ति के लिए अवसरों से; अनालब्ध—अछूता तथा अप्रभावित; धियः—जिसकी चेतना; जुषन्ति—अनुभव करते हैं; ते—वे; यत्—जो; नैरपेक्ष्यम्—पूर्ण विरक्ति द्वारा ही प्राप्त हुआ; न विदुः—नहीं जानते; सुखम्—सुख; मम—मेरा।

जो निजी तृप्ति की किसी इच्छा से रहित हैं, जिनके मन सदैव मुझमें अनुरक्त रहते हैं, जो शान्त, मिथ्या अभिमान से रहित तथा समस्त जीवों पर दयालु हैं तथा जिनकी चेतना कभी भी इन्द्रियतृप्ति के अवसरों से प्रभावित नहीं होती, ऐसे व्यक्ति मुझमें ऐसा सुख पाते हैं जिसे वे व्यक्ति प्राप्त नहीं कर पाते या जान भी नहीं पाते जिनमें भौतिक जगत से विरक्ति का अभाव है।

तात्पर्य : शुद्ध भक्तगण आनन्द के आगार श्रीकृष्ण की सेवा में सदैव दिव्य आनन्द का अनुभव करते हैं। इस तरह वे भौतिक आनन्द से पूरी तरह विरक्त होते हैं और मुक्ति की भी कामना नहीं करते। चूँकि अन्य सारे लोगों में कुछ न कुछ निजी इच्छा होती है, अतएव वे ऐसे आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते। कृष्ण-भक्त अन्यों को सदैव कृष्णभावनाभावित सुख देने की इच्छा रखते हैं, इसलिए वे महान्तः या महान् आत्माएँ कहलाते हैं। भक्त द्वारा सेवा किये जाने के दौरान, इन्द्रियतृप्ति के अनेक अवसर उपस्थित होते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त उनसे आकृष्ट नहीं होता है और वह अपने उच्च दिव्य पद से नीचे नहीं गिरता।

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।

प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

बाध्यमानः—सताया जाकर; अपि—भी; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; विषयैः—इन्द्रिय-विषयों द्वारा; अजित—बिना जीता गया; इन्द्रियः—इन्द्रियों द्वारा; प्रायः—सामान्यतया; प्रगल्भया—प्रभावशाली तथा दृढ़; भक्त्या—भक्ति से; विषयैः—इन्द्रियतृप्ति द्वारा; न—नहीं; अभिभूयते—परास्त होता है।

हे उद्धव, यदि मेरा भक्त पूरी तरह से अपनी इन्द्रियों को जीत नहीं पाता, तो वह भौतिक इच्छाओं द्वारा सताया जा सकता है, किन्तु मेरे प्रति अविचल भक्ति के कारण, वह इन्द्रियतृप्ति द्वारा परास्त नहीं किया जायेगा।

तात्पर्य : अभिभूयते सूचक है भौतिक जगत में गिरने तथा माया द्वारा परास्त होने का। किन्तु जिस व्यक्ति में कृष्ण के प्रति अविचल भक्ति होती है, वह अपनी इन्द्रियों को पूरी तरह न जीत पाने पर भी भगवान् से विलग नहीं हो सकता। प्रगल्भया भक्त्या सूचक है उसका जो कृष्ण में प्रगाढ़ भक्ति रखता है, उसका नहीं जो पापकर्म करने का इच्छुक रहता है और कर्मफल से बचने के लिए हरे कृष्ण कीर्तन करता है। पिछली बुरी आदतों एवं अपरिपक्वता के कारण निष्ठावान् भक्त भी देहात्म बुद्धि के प्रति दीर्घकालिक आकर्षण के कारण पीड़ित रह सकता है, लेकिन कृष्ण के प्रति अविचल भक्ति कारगर सिद्ध होगी। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित दो उदाहरण दिये हैं। अपने शत्रु द्वारा आहत महान् योद्धा अपने साहस तथा बल के कारण न तो पराजित होता है न ही मारा जाता है। वह वार को सहता है और विजयी होता है। इसी तरह मनुष्य को कोई घातक रोग हो सकता है किन्तु सही दवा लेने पर वह तुरन्त अच्छा हो जाता है।

यदि निर्विशेष चिन्तन तथा तपस्या करने वाले लोग थोड़ा भी विचलित होते हैं, तो वे गिर जाते हैं। किन्तु भक्त अपरिपक्व होते हुए भी, अपने भक्ति-मार्ग से कभी च्युत नहीं होता। यदि उसमें कभी कोई दुर्बलता दिखती भी है, तो भी वह भक्त माना जाता है यदि कृष्ण के प्रति उसकी भक्ति अति प्रबल होती है। जैसाकि भगवद्गीता (९.३०) में भगवान् ने कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग व्यवसितो हि सः ॥

“यदि कोई जघन्यतम कर्म भी करता है, किन्तु यदि वह भक्ति में रत रहता है, तो उसे साधु मानना चाहिए, क्योंकि वह अपने संकल्प में अडिग रहता है।”

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।

तथा मद्दिषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अग्निः—आग; सु-समृद्ध—धधकती हुई; अर्चिः—लपटों वाली; करोति—बदल देती है; एधांसि—लकड़ी को; भस्म-सात्—राख में; तथा—उसी तरह; मत्-विषया—मुझे लक्ष्य बनाकर; भक्तिः—भक्ति; उद्धव—हे उद्धव; एनांसि—पाप करता है; कृत्स्नशः—पूरी तरह से।

हे उद्धव, जिस तरह धधकती अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देती है, उसी तरह मेरी भक्ति मेरे भक्तों द्वारा किये गये पापों को पूर्णतया भस्म कर देती है।

तात्पर्य : ध्यान देना होगा कि भगवान् भक्ति को धधकती अग्नि बतला रहे हैं। पवित्र नाम कीर्तन के बल पर पापकर्म करना सबसे बड़ा अपराध है, अतएव जो ऐसा अपराध करता है उसकी भक्ति की तुलना कृष्ण-प्रेम की धधकती अग्नि से नहीं की जा सकती। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, एक निष्ठावान भक्त अपनी अपरिपक्वता या पुराने दुर्गुणों के कारण कृष्ण को अपना जीवन-लक्ष्य स्वीकार करने के बाद भी, इन्द्रियों द्वारा विचलित किया जा सकता है। किन्तु यदि संयोगवश ऐसा भक्त च्युत होता है, तो भगवान् उसके कर्मफलों को भस्म कर देते हैं, जिस तरह धधकती अग्नि लकड़ी के छोटे-से टुकड़े को तुरन्त जला देती है। भगवान् कृष्ण यशस्वी हैं और जो भगवान् की शरण ग्रहण करता है, उसे भगवद्भक्ति के अद्वितीय लाभ प्राप्त होते हैं।

न साधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव ।

न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; साधयति—वश में करती है; माम्—मुझको; योगः—योग-पद्धति; न—न तो; साङ्ख्यम्—सांख्य दर्शन; धर्मः—वर्णाश्रम प्रणाली के अन्तर्गत पवित्र कार्यकलाप; उद्धव—हे उद्धव; न—नहीं; स्वाध्यायः—वैदिक अध्ययन; तपः—तपस्या; त्यागः—त्याग; यथा—जिस तरह; भक्तिः—भक्ति; मम—मेरे प्रति; ऊर्जिता—विकसित।

हे उद्धव, भक्तों द्वारा की जाने वाली मेरी शुद्ध भक्ति मुझे उनके वश में करने वाली है। अतएव योग, सांख्य दर्शन, शुद्ध कार्य, वैदिक अध्ययन, तप अथवा वैराग्य में लगे व्यक्तियों के द्वारा मैं भी वशीभूत नहीं होता।

तात्पर्य : भले ही योग, सांख्य दर्शन आदि का लक्ष्य कृष्ण हो, किन्तु ऐसे कार्य भगवान् को उतना नहीं भाते जितना कि भगवान् का श्रवण, कीर्तन तथा उनके मिशन को पूरा करने वाली प्रत्यक्ष

प्रेमाभक्ति। श्रील रूप गोस्वामी बतलाते हैं—ज्ञानकर्माद्यनावृतम्—भक्त को केवल कृष्ण पर आश्रित रहना चाहिए। उसे सकाम कर्म या मनोधर्म की ओर उन्मुख होकर व्यर्थ ही अपनी प्रेमाभक्ति को जटिल नहीं बनाना चाहिए। वृन्दावनवासी केवल कृष्ण पर आश्रित रहते हैं। जब ब्रज के निकट अघासुर नामक विशाल सर्प प्रकट हुआ तो अपने मित्र कृष्ण पर पूर्ण विश्वास रखने वाले ग्वालबालों ने निर्भय होकर उस सर्प के विशाल मुख में प्रवेश किया। कृष्ण के प्रति ऐसा शुद्ध प्रेम ही भगवान् को भक्त के वशीभूत बनाता है।

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्रपाकानपि सम्भवात् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भक्त्या—भक्ति से; अहम्—मैं; एकया—शुद्ध; ग्राह्यः—प्राप्त किया जाने वाला; श्रद्धया—श्रद्धा से; आत्मा—भगवान्; प्रियः—प्रेम की वस्तु; सताम्—भक्तों की; भक्तिः—शुद्ध भक्ति; पुनाति—पवित्र बनाती है; मत्-निष्ठा—मुझको एकमात्र लक्ष्य बनाकर; श्र-पाकान्—चांडाल; अपि—भी; सम्भवात्—निम्न जन्म के कल्मष से।

मुझ पर पूर्ण श्रद्धा से युक्त शुद्ध भक्ति का अभ्यास करके ही मुझे अथात् पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। मैं स्वभावतः अपने उन भक्तों को प्रिय हूँ जो मुझे ही अपनी प्रेमाभक्ति का एकमात्र लक्ष्य मानते हैं। ऐसी शुद्ध भक्ति में लगने से चांडाल तक अपने निम्न जन्म के कल्मष से अपने को शुद्ध कर सकते हैं।

तात्पर्य : सम्भवात् सूचक है जाति-दोषात् अर्थात् निम्न कुल के दूषण से। जाति-दोष सांसारिक, सामाजिक, आर्थिक या वृत्तिपरक पद का सूचक नहीं है, प्रत्युत आध्यात्मिक प्रबुद्धता की मात्रा का द्योतक है। विश्व-भर में अनेक लोग धनी तथा बलवान परिवारों में जन्म लेते हैं, किन्तु वे प्रायः अनेक घृणित आदतें ग्रहण कर लेते हैं, जो उनकी पारिवारिक प्रथा की अंग होती हैं। किन्तु शुद्ध भक्ति की शक्ति से ऐसे अभागे व्यक्ति भी तुरन्त शुद्ध हो जाते हैं, जिन्हें जन्म से ही पापकर्मों में लगने की शिक्षा दी जाती है। ऐसी सेवा का एकमात्र लक्ष्य कृष्ण (मन्निष्ठा) होना चाहिए, उसे श्रद्धापूर्वक सम्पन्न किया जाना चाहिए (श्रद्धया) और उसे शुद्ध अर्थात् स्वार्थ से रहित (एकया) होना चाहिए।

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।

मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक्प्रपुनाति हि ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

धर्मः— धार्मिक सिद्धान्त; सत्य—सच्चाई; दया—तथा दया से; उपेतः—युक्त; विद्या—ज्ञान; वा—अथवा; तपसा—तपस्या से; अन्विता—युक्त; मत्-भक्त्या—मेरी भक्ति से; अपेतम्—रहित; आत्मानम्—चेतना; न—नहीं; सम्यक्—पूर्णतया; प्रपुनाति—शुद्ध बनाती है; हि—निश्चय ही।

न सत्य तथा दया से युक्त धार्मिक कार्य, न ही कठिन तपस्या से प्राप्त किया गया ज्ञान उनकी चेतना को पूर्णतया शुद्ध बना सकता है, जो मेरी भक्ति से विहीन होते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि पवित्र धार्मिक कार्य, सत्य, दया, तपस्या तथा ज्ञान अंशतः जीवन को शुद्ध बनाने वाले हैं, किन्तु इनसे भौतिक इच्छाएँ समूल नष्ट नहीं होतीं। इस तरह वही इच्छाएँ बाद में फिर से प्रकट होंगी। भौतिक तृप्ति के विस्तृत कार्यक्रम के बाद, मनुष्य तपस्या करने, ज्ञान अर्जित करने, निःस्वार्थ कर्म करने और अपने जीवन को शुद्ध बनाने के प्रति उत्सुक हो जाता है। किन्तु पर्याप्त पवित्रता तथा शुद्धि के बाद, वह पुनः भौतिक भोग के लिए उत्सुक हो उठता है। खेतों की सफाई करते समय अवांछित पौधों को समूल नष्ट कर देना चाहिए अन्यथा वर्षा आते ही वे फिर हरे-भरे हो उठेंगे। भगवान् के प्रति शुद्ध भक्ति मनुष्य की भौतिक इच्छाओं का उच्छेदन कर देती है, जिससे पुनः भौतिक तृप्ति की अधोगति को प्राप्त होने का भय नहीं रहता। भगवद्धाम में भगवान् तथा उनके भक्तों के बीच प्रेम का आदान-प्रदान चलता रहता है। जो प्रबुद्ध की इस अवस्था को प्राप्त नहीं हो पाता, वह भौतिक पद पर बना रहता है, जो त्रुटियों तथा विरोधाभासों से पूर्ण है। इस तरह भगवद्भक्ति के बिना हर वस्तु अपूर्ण होती है।

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।

विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; विना—बिना; रोम-हर्षम्—रोंगटे खड़े होना, रोमांच; द्रवता—पिघला; चेतसा—हृदय से; विना—रहित; विना—रहित; आनन्द—आनन्द के; अश्रु-कलया—आँसू बहना; शुध्येत्—शुद्ध किया जा सकता है; भक्त्या—भक्ति से; विना—रहित; आशयः—चेतना।

यदि किसी को रोमांच नहीं होता, तो उसका हृदय कैसे द्रवित हो सकता है? और यदि हृदय द्रवित नहीं होता, तो आँखों से प्रेमाश्रु कैसे बह सकते हैं? यदि कोई आध्यात्मिक सुख में चिल्ला नहीं उठता, तो वह भगवान् की प्रेमाभक्ति कैसे कर सकता है? और ऐसी सेवा के बिना चेतना कैसे शुद्ध बन सकती है?

तात्पर्य : भगवान् की प्रेमाभक्ति ही वह विधि है, जिससे मनुष्य की चेतना पूर्णतया शुद्ध हो सकती है। ऐसी भक्ति से भाव की तरंगें उत्पन्न होती हैं, जो आत्मा को पूरी तरह विमल बना देती हैं। जैसाकि कृष्ण ने पहले ही उद्धव से बताया है, आत्म-निग्रह, शुद्ध कर्म, योग, तपस्या जैसी विधियाँ मन को शुद्ध करने वाली हैं जिसका उल्लेख अनेक प्रामाणिक ग्रंथों में हुआ है। किन्तु ऐसी विधियाँ निषिद्ध कर्मों को करने की इच्छा को पूरी तरह से दूर नहीं कर पातीं। परन्तु भगवत्प्रेमवश सम्पन्न शुद्ध भक्ति इतनी प्रबल होती है कि वह प्रगति के मार्ग के किसी भी अवरोध को जलाकर भस्म कर देती है। इस अध्याय में भगवान् ने कहा है कि उनकी प्रेमाभक्ति वह धधकती आग है, जो सारे अवरोधों को भस्म कर देती है। इसके विपरीत, मानसिक चिन्तन (मनोधर्म) या योग की लघु अग्नियाँ पापपूर्ण इच्छाओं के द्वारा किसी भी क्षण बुझाई जा सकती हैं। अतः श्रीमद्भागवत के श्रवण द्वारा मनुष्य को भगवान् के प्रति प्रेमाभक्ति रूपी धधकती अग्नि जलानी चाहिए और भौतिक मोह के पाश को भस्म कर देना चाहिए।

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं

रुदत्यभीक्षणं हसति क्वचिच्च ।

विलज्ज उद्गायति नृत्यते च

मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

वाक्—वाणी; गद्गदा—रुद्ध; द्रवते—पिघलता है; यस्य—जिसका; चित्तम्—हृदय; रुदति—रोता है; अभीक्षणम्—पुनः पुनः; हसति—हँसता है; क्वचित्—कभी; च—भी; विलज्जः—लज्जित; उद्गायति—जोरों से गा उठता है; नृत्यते—नाचता है; च—भी; मत्-भक्ति-युक्तः—मेरी भक्ति में स्थिर; भुवनम्—ब्रह्माण्ड को; पुनाति—पवित्र करता है।

वह भक्त जिसकी वाणी कभी रुद्ध हो जाती है, जिसका हृदय द्रवित हो उठता है, जो निरन्तर चिल्लाता है और कभी हँसता है, जो लज्जित होता है और जोरों से चिल्लाता है, फिर नाचने लगता है—इस तरह से मेरी भक्ति में स्थिर भक्त सारे ब्रह्माण्ड को शुद्ध करता है।

तात्पर्य : वाग् गद्गदा द्योतक है अत्यधिक भावनामयी स्थिति का जिसमें कण्ठ रुद्ध हो जाता है और मनुष्य अपने को व्यक्त नहीं कर पाता। विलज्जः शब्द यह सूचित करता है कि भक्त कभी कभी शारीरिक कार्यों तथा विगत पाप-कृत्यों की स्मृतियों के कारण उद्विग्न हो उठता है। इस अवस्था में भक्त जोर जोर से चिल्लाकर कृष्ण का नाम लेता है और कभी कभी आनन्दमग्न होकर नाचने लगता

है। ऐसा भक्त तीनों लोकों को पवित्र करता है।

हृदय द्रवित होने से मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में स्थिर हो जाता है। सामान्यतया, जिसका हृदय आसानी से द्रवित हो उठता है उसे अस्थिर माना जाता है, किन्तु कृष्ण तो समस्त जगत की स्थिर नींव हैं अतएव जिसका हृदय कृष्ण-प्रेम में द्रवित होता है, वह सर्वाधिक स्थिर हो जाता है और वह विरोधमूलक तर्कों, शारीरिक कष्ट, मानसिक समस्याओं, आधिदैविक आपदाओं या ईर्ष्यालु व्यक्तियों के हस्तक्षेप से विचलित नहीं हो सकता। चूँकि ऐसा भक्त भगवान् की प्रेमाभक्ति में स्थिर रहता है, अतएव वह भगवान् का हृदय ही बन जाता है।

यथाग्निना हेम मलं जहाति

ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।

आत्मा च कर्मानुशयं विधूय

मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अग्निना—अग्नि से; हेम—स्वर्ण; मलम्—अशुद्ध; जहाति—त्याग देता है; ध्मातम्—पिघलाया; पुनः—फिर; स्वम्—अपने से; भजते—प्रवेश करता है; च—भी; रूपम्—स्वरूप; आत्मा—आत्मा या चेतना; च—भी; कर्म—सकाम कर्मों का; अनुशयम्—बचा दूषण; विधूय—हटाकर; मत्-भक्ति-योगेन—मेरी भक्ति से; भजति—पूजा करता है; अथो—इस प्रकार; माम्—पुझको।

जिस तरह आग में पिघलाने से सोना अपनी अशुद्धियाँ त्याग कर शुद्ध चमक प्राप्त कर लेता है, उसी तरह भक्तियोग की अग्नि में लीन आत्मा पूर्व सकाम कर्मों से उत्पन्न सारे कल्मष से शुद्ध बन जाता है और वैकुण्ठ में मेरी सेवा करने के अपने आदि पद को प्राप्त करता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यह श्लोक सूचित करता है कि भक्त भगवद्धाम वापस जाता है और वहाँ पर अपने आदि आध्यात्मिक शरीर में, जिसकी उपमा पिघले सोने के आदि शुद्ध रूप से की जाती है, भगवान् कृष्ण की पूजा करता है। निकृष्ट धातुएँ मिली होने पर सोने को जल तथा साबुन से शुद्ध नहीं किया जा सकता। इसी तरह हृदय की अशुद्धियों को बाह्य विधियों से नहीं हटाया जा सकता। ईश-प्रेम की अग्नि ही मनुष्य के आत्मा को विमल बनाकर उसे भगवान् की नित्य भक्ति में लगाने के लिए भगवद्धाम भेज सकती है।

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ

मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
 तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
 चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यथा यथा—जितना; आत्मा—आत्मा, चेतन जीव; परिमृज्यते—भौतिक कल्मष से विमल होता है; असौ—वह; मत्-पुण्य-गाथा—मेरे यश का पवित्र वर्णन; श्रवण—सुनने से; अभिधानैः—तथा कीर्तन से; तथा तथा—उसी अनुपात में; पश्यति—देखता है; वस्तु—परब्रह्म को; सूक्ष्मम्—सूक्ष्म; चक्षुः—आँख; यथा—जिस तरह; एव—निश्चय ही; अञ्जन—औषधि के अंजन से; सम्प्रयुक्तम्—उपचारित।

जब रुग्ण आँख का उपचार औषधीय अंजन से किया जाता है, तो आँख में धीरे धीरे देखने की शक्ति आ जाती है। इसी तरह जब चेतनामय जीव मेरे यश की पुण्य गाथाओं के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा अपने भौतिक कल्मष को धो डालता है, तो वह फिर से मुझ परब्रह्म को मेरे सूक्ष्म आध्यात्मिक रूप में देखने की शक्ति पा लेता है।

तात्पर्य : भगवान् सूक्ष्म कहलाते हैं क्योंकि वे शुद्ध आध्यात्मिक चेतना हैं, जिन्हें भौतिक शक्ति छू तक नहीं पाती। यदि कोई व्यक्ति निष्ठापूर्वक कृष्ण के नाम तथा यश का कीर्तन और श्रवण करता है, तो इसका दिव्य प्रभाव तुरन्त पड़ता है। यदि हम यहाँ पर उल्लिखित विधि को अपना लें, तो हम तुरन्त भगवान् के धाम तथा उनकी लीलाओं का दर्शन कर सकते हैं। अन्धा व्यक्ति उस वैध का आजीवन कृतज्ञ रहता है, जो उसको फिर से दृष्टि देता है। इसी तरह हम गाते हैं—*चक्षु-दान दिल ये, जन्मे जन्मे प्रभु सेइ*—भगवान् कृष्ण का प्रतिनिधि स्वरूप प्रामाणिक गुरु हमें आध्यात्मिक दृष्टि देता है, तो इस तरह वह हमारा नित्य स्वामी है।

विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
 मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

विषयान्—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुएँ; ध्यायतः—ध्यान करने वाला; चित्तम्—चेतना को; विषयेषु—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में; विषज्जते—अनुरक्त होता है; माम्—मुझको; अनुस्मरतः—निरन्तर स्मरण करता हुआ; चित्तम्—चेतना को; मयि—मुझमें; एव—निश्चय ही; प्रविलीयते—लीन रहता है।

इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं का ध्यान धरने वाले का मन निश्चय ही ऐसी वस्तुओं में फँसा रहता है, किन्तु यदि कोई निरन्तर मेरा स्मरण करता है, तो उसका मन मुझमें निमग्न हो जाता है।

तात्पर्य : किसी को यह नहीं सोच लेना चाहिए कि यांत्रिक रूप से भगवान् की पूजा में लगने से कृष्ण का पूर्ण दिव्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ पर कृष्ण कहते हैं कि मन के भीतर भगवान्

को बनाये रखने के लिए मनुष्य को निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। *अनुस्मरतः* उसी के लिए सम्भव है, जो कृष्ण के यश का सदैव कीर्तन तथा श्रवण करता है। इसीलिए कहा गया है कि भक्ति की विधि *श्रवणम्* तथा *कीर्तनम्* से शुरू और *स्मरणम्* द्वारा विकसित होती है। जो व्यक्ति निरन्तर भौतिक तृप्ति की वस्तुओं के बारे में सोचता है, वह उनमें अनुरक्त होता जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति कृष्ण को निरन्तर अपने मन के भीतर रखता है, वह भगवान् के दिव्य स्वभाव में लीन हो जाता है और इस तरह भगवान् के ही धाम में जाकर उनकी सेवा करने का पात्र बन जाता है।

तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।

हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; असत्—भौतिक; अभिध्यानम्—उत्थान विधि जो ध्यान को लीन करे; यथा—जिस तरह; स्वप्न—सपने में; मनः-रथम्—मानसिक चिन्तन; हित्वा—त्याग कर; मयि—मुझमें; समाधत्स्व—पूरी तरह लीन करो; मनः—मन; मत्-भाव—मेरी चेतना द्वारा; भावितम्—शुद्ध किया गया।

इसलिए मनुष्य को उत्थान की उन सारी विधियों का बहिष्कार करना चाहिए, जो स्वप्न के मनोरथों जैसी हैं। उसे अपना मन पूरी तरह से मुझमें लीन कर देना चाहिए। निरन्तर मेरा चिन्तन करने से वह शुद्ध बन जाता है।

तात्पर्य : *भावितम्* का अर्थ है “बनाया जाता है”। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में बतलाया गया है भौतिक जगत ऐसा अस्थायी पद है जहाँ सृष्टि तथा संहार के उत्पात होते रहते हैं। किन्तु जो अपनी चेतना को कृष्ण में लीन करता है, वह कृष्ण के स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए यह *मद्भावभावितम्* के रूप में वर्णित है। भगवान् यहीं पर मानव सिद्धि की विविध विधियों की व्याख्या समाप्त करते हैं।

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।

क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों की; स्त्री—स्त्री के प्रति; सङ्गिनाम्—अनुरक्त रहने वालों की; सङ्गम्—संगति; त्यक्त्वा—त्याग कर; दूरतः—दूर; आत्म-वान्—आत्मा के प्रति सचेष्ट; क्षेमे—निर्भय; विविक्ते—पृथक् या एकान्त स्थान में; आसीनः—बैठे हुए; चिन्तयेत्—एकाग्र करे; माम्—मुझ पर; अतन्द्रितः—सावधानी से।

नित्य आत्मा के प्रति सचेष्ट रहते हुए मनुष्य को स्त्रियों की तथा स्त्रियों से घनिष्ठतापूर्वक

सम्बद्ध व्यक्तियों की संगति त्याग देनी चाहिए। एकान्त स्थान में निर्भय होकर आसन लगाकर, उसे अपने मन को बड़े ही ध्यान से मुझ पर एकाग्र करना चाहिए।

तात्पर्य : जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध स्त्रियों से होता है और जो उन पर अनुरक्त रहते हैं, वे भगवद्धाम जाने के संकल्प को क्रमशः त्याग देंगे। कामुक व्यक्तियों की संगति से भी ऐसा ही परिणाम निकलता है। इसलिए सलाह दी जाती है कि मनुष्य निर्भय होकर एकान्त स्थान में बैठ जाय या फिर ऐसे स्थान में जहाँ आध्यात्मिक आत्महत्या करने वाले कामुक पुरुष तथा स्त्रियाँ न हों। विफलता या जीवन में दुख के भय से रहित होकर मनुष्य को भगवान् के निष्ठावान भक्तों के साथ रहते जाना चाहिए। *अतन्द्रित* का अर्थ है कि मनुष्य इस सिद्धान्त पर अडिग और सावधान रहे, कोई समझौता न करे। जो *आत्मवान्* है, अर्थात् जो नित्य आत्मा के व्यावहारिक ज्ञान से जुड़ा हुआ है, वही ऐसा कर सकता है।

न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।

योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उस तरह; अस्य—उसका; भवेत्—हो सकता है; क्लेशः—कष्ट; बन्धः—बन्धन; च—तथा; अन्य-प्रसङ्गतः—अन्य लगाव से; योषित्—स्त्रियों के; सङ्गात्—अनुरक्ति से; यथा—जैसे; पुंसः—मनुष्य का; यथा—उसी तरह; तत्—स्त्रियों को; सङ्गि—अनुरक्त रहने वाले की; सङ्गतः—संगति से।

विभिन्न अनुरक्तियों से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के कष्ट तथा बन्धन में से ऐसा एक भी नहीं, जो स्त्रियों के प्रति अनुरक्ति तथा स्त्रियों के प्रति अनुरक्त रहने वालों के घनिष्ठ सम्पर्क से बढ़ कर हो।

तात्पर्य : मनुष्य को स्त्रियों तथा स्त्रियों को चाहने वालों से घनिष्ठ सम्बन्ध तोड़ने का महत् प्रयास करना चाहिए। यदि किसी विद्वान व्यक्ति को कामुक स्त्रियों के घनिष्ठ सम्पर्क में रख दिया जाय, तो वह स्वयमेव सतर्क रहेगा। किन्तु वही व्यक्ति कामुक मनुष्यों की संगतिमें सभी प्रकार के सामाजिक कार्यों में भाग लेने से उनकी दूषित मनोवृत्ति से स्वयं दूषित हो सकता है। कामुक व्यक्तियों की संगति स्त्रियों की संगति से प्रायः अधिक खतरनाक होती है इसलिए उनसे सभी तरह से बचना चाहिए। *भागवत* में ऐसे असंख्य श्लोक हैं, जो भौतिक काम के नशे का वर्णन करने वाले हैं। यह कहना पर्याप्त होगा कि कामुक व्यक्ति नाचते कुत्ते की तरह हो जाता है और कामदेव के प्रभाव से वह सारी गम्भीरता, बुद्धि तथा जीवन-दिशा खो देता है। यहाँ पर भगवान् आगाह करते हैं कि जो व्यक्ति स्त्री के मायामय रूप के

समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है, वह इस जीवन में तथा अगले जीवन में असह्य कष्ट पाता है।

श्रीउद्धव उवाच

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम् ।

ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यथा—किस तरह से; त्वाम्—आपके; अरविन्द-अक्ष—हे कमलनेत्र वाले कृष्ण; यादृशम्—जिस स्वभाव का; वा—अथवा; यत्-आत्मकम्—किस रूप में; ध्यायेत्—ध्यान करे; मुमुक्षुः—मुक्ति का इच्छुक; एतत्—यह; मे—मुझको; ध्यानम्—ध्यान; त्वम्—तुम्हें; वक्तुम्—कहने या बतलाने के लिए; अर्हसि—चाहिए।

श्री उद्धव ने कहा : हे कमलनयन कृष्ण, यदि कोई मुक्ति का इच्छुक व्यक्ति आपका ध्यान करना चाहें तो वह किस विधि से करे, उसका यह ध्यान किस विशेष स्वभाव वाला हो और वह किस रूप का ध्यान करे? कृपया मुझे ध्यान के इस विषय के बारे में बतलायें।

तात्पर्य : भगवान् पहले ही विस्तार से बतला चुके हैं कि भक्त की संगति में रह कर उनकी भक्ति के बिना कोई भी अन्य विधि सफल नहीं होगी। इसलिए यह पूछा जा सकता है कि उद्धव फिर से ध्यान विधि का उल्लेख क्यों कर रहे हैं? आचार्य बतलाते हैं कि जब तक भक्तियोग को अन्य सारी विधियों में सर्वश्रेष्ठ नहीं मान लिया जाता, तब तक उसके सौन्दर्य तथा उसकी पूर्णता को पूरी तरह नहीं जाना जा सकता। तुलनात्मक विवेचन से भक्तगण भक्तियोग का सही सही मूल्यांकन कर सकते हैं। यहाँ पर यह भी जान लेना चाहिए कि यद्यपि उद्धव मुमुक्षुओं के लिए प्रश्न कर रहे हैं, किन्तु वे मुमुक्षु नहीं हैं, प्रत्युत वे उन लोगों के लिए प्रश्न कर रहे हैं, जिन्हें भगवत्प्रेम प्राप्त नहीं हो पाया है। उद्धव इस ज्ञान को अपनी तुष्टि हेतु सुनना चाहते हैं ताकि जो लोग मुक्ति या मोक्ष की कामना करते हैं उनकी इस तरह से रक्षा की जा सके और उन्हें भगवान् की शुद्ध भक्ति के मार्ग पर मोड़ा जा सके।

श्रीभगवानुवाच

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् ।

हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥ ३२ ॥

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।

विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्नितिन्द्रियः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; समे—समतल; आसने—आसन पर; आसीनः—बैठ कर; सम-कायः—शरीर को सीधा करके; यथा-सुखम्—सुखपूर्वक बैठ कर; हस्तौ—दोनों हाथों को; उत्पङ्गे—गोद में; आधाय—रख कर; स्व-नास-अग्र—

अपनी नाक के अगले भाग पर; कृत—केन्द्रित करते हुए; ईक्षणः—चितवन; प्राणस्य—श्वास का; शोधयेत्—शुद्ध करना चाहिए; मार्गम्—मार्ग; पूर-कुम्भक-रेचकैः—प्राणायाम द्वारा; विपर्ययेण—उलट करके, अर्थात् रेचक, कुम्भक तथा पूरक क्रम में; अपि—भी; शनैः—धीरे धीरे; अभ्यसेत्—प्राणायाम का अभ्यास करे; निर्जित—वश में करके; इन्द्रियः—इन्द्रियों को।

भगवान् ने कहा : ऐसे आसन पर बैठ कर, जो न तो ज्यादा ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो, शरीर को सीधा रखते हुए जिससे सुख मिल सके, दोनों हाथों को गोद में रख कर तथा आँखों को अपनी नाक के अगले सिरे पर केन्द्रित करते हुए, मनुष्य को चाहिए कि पूरक, कुम्भक तथा रेचक प्राणायाम का यांत्रिक अभ्यास करे और फिर इस विधि को उलट कर करे (अर्थात् रेचक, कुम्भक तथा पूरक के क्रम से करे)। इन्द्रियों को भलीभाँति वश में कर लेने के बाद, उसे धीरे धीरे प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

तात्पर्य : इस विधि के अनुसार हाथों को उलट कर रखना चाहिए, जिससे हथेलियाँ एक-दूसरे के ऊपर रहें। इस तरह मन की स्थिरता प्राप्त करने के लिए श्वास रोक कर प्राणायाम का अभ्यास करे। योगशास्त्र में कहा गया है अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः स्थिरचित्तः सुसंगतः—आँखें, जो कि सामान्यतः बाहर देखती हैं उन्हें अन्तर्मुखी कर दिया जाय। इस तरह मन स्थिर होकर पूरी तरह वश में हो जाता है।

हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।

प्राणेनोदीर्यं तत्राथ पुनः संवेशयेत्स्वरम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

हृदि—हृदय में; अविच्छिन्नम्—अनवरत; ओंकारम्—ॐकार की पवित्र ध्वनि; घण्टा—घण्टे की तरह; नादम्—ध्वनि; बिस-ऊर्ण-वत्—कमल वृन्त तक जाने वाले रेशे की तरह; प्राणेन—प्राण-वायु द्वारा; उदीर्य—धकेल कर; तत्र—वहाँ (बारह अंगुल दूरी पर); अथ—इस प्रकार; पुनः—फिर; संवेशयेत्—जोड़ दे; स्वरम्—अनुस्वार समेत पन्द्रह ध्वनियाँ।

मूलाधार चक्र से शुरू करके, मनुष्य को चाहिए कि प्राण-वायु को कमल नाल के तनुओं की तरह ऊपर की ओर लगातार ले जाय जब तक कि वह हृदय तक न पहुँच जाय जहाँ पर ॐ का पवित्र अक्षर घंटे की ध्वनि की तरह विद्यमान है। इस तरह उसे इस अक्षर को लगातार ऊपर की ओर बारह अंगुल की दूरी तक उठाते जाना चाहिए और वहाँ पर ॐकार को अनुस्वार समेत उत्पन्न पन्द्रह ध्वनियों से जोड़ देना चाहिए।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि योग-पद्धति कुछ कुछ प्राविधिक तथा सम्पन्न करने में कठिन है। अनुस्वार नाक से निकलने वाली वह ध्वनि है, जो पन्द्रह संस्कृत स्वरों के बाद में उच्चरित होती है। इस विधि की पूरी व्याख्या जटिल है और स्पष्टया इस कलियुग के लिए अनुपयुक्त है। इस विवरण से

हम यह पता लगा सकते हैं कि पहले के युगों में योग-ध्यान करने वालों की यह कितनी बड़ी उपलब्धि होती थी। इतने के बावजूद हमें इस युग के लिए संस्तुत ध्यान की सरल तथा व्यावहारिक विधि को अपनाना चाहिए जो कि हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन है।

एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत् ।

दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग्विजितानिलः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रणव—ॐ अक्षर से; संयुक्तम्—जुड़ा हुआ; प्राणम्—शारीरिक श्वास को वश में करने की प्राणायाम विधि; एव—निस्सन्देह; समभ्यसेत्—सतर्कता से अभ्यास करे; दश-कृत्वः—दस बार; त्रि-षवणम्—सूर्योदय, दोपहर तथा सूर्यास्त के समय; मासात्—एक मास के; अर्वाक्—पश्चात्; जित—जीत लेगा; अनिलः—प्राण-वायु।

ॐकार में स्थिर होकर मनुष्य को चाहिए कि सूर्योदय, दोपहर तथा सूर्यास्त के समय दस-दस बार प्राणायाम का सतर्कतापूर्वक अभ्यास करे। इस तरह एक महीने के बाद वह प्राण-वायु पर विजय पा लेगा।

हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
 ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ।
 कर्णिकायां न्यसेत्सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम् ॥ ३६ ॥
 वह्निमध्ये स्मरेद्रूपं ममैतद्भयानमङ्गलम् ।
 समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम् ॥ ३७ ॥
 सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम् ।
 समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ३८ ॥
 हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम् ।
 शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ॥ ३९ ॥
 नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ।
 द्युमत्किरीटकटकटिसूत्राङ्गदायुतम् ॥ ४० ॥
 सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम् ।
 सुकुमारमभिध्यायेत्सर्वाङ्गेषु मनो दधत् ॥ ४१ ॥
 इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः ।
 बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

हृत्—हृदय में; पुण्डरीकम्—कमल का फूल; अन्तः-स्थम्—शरीर के भीतर स्थित; ऊर्ध्व-नालम्—कमल नाल को ऊपर उठाये; अधः-मुखम्—आँखें आधी बन्द किये हुए तथा नाक के सिरे पर ताकते हुए; ध्यात्वा—ध्यान में मन को स्थिर करके;

ऊर्ध्व-मुखम्—जाग्रत; उन्नद्धम्—बिना ऊँघे, सचेष्ट; अष्ट-पत्रम्—आठ पंखुड़ियों वाला; स-कर्णिकम्—कोशयुक्त; कर्णिकायाम्—कोश के भीतर; न्यसेत्—एकाग्र होकर रखे; सूर्य—सूर्य; सोम—चन्द्रमा; अग्नीन्—तथा अग्नि; उत्तर-उत्तरम्—एक के बाद एक, इस क्रम से; वह्नि-मध्ये—अग्नि के भीतर; स्मरेत्—ध्यान करे; रूपम्—स्वरूप पर; मम—मेरे; एतत्—यह; ध्यान-मङ्गलम्—ध्यान की पवित्र वस्तु; समम्—शरीर के सभी अंगएकसमान, संतुलित; प्रशान्तम्—शान्त; सु-मुखम्—प्रसन्न; दीर्घ-चारु-चतुः-भुजम्—चार सुन्दर लम्बी भुजाओं वाले; सु-चारु—मनोहारी; सुन्दर—सुन्दर; ग्रीवम्—गर्दन; सु-कपोलम्—सुन्दर मस्तक; शुचि-स्मितम्—शुद्ध मुस्कान से युक्त; समान—सदृश; कर्ण—कान में; विन्यस्त—स्थित; स्फुरत्—चमचमाते; मकर—मगर के आकार के; कुण्डलम्—कुण्डल; हेम—सुनहरे रंग के; अम्बरम्—वस्त्र; घन-श्यामम्—बादलों जैसे श्यामरंग के; श्री-वत्स—भगवान् के वक्षस्थल पर अद्वितीय घुंघराले बाल; श्री-निकेतनम्—लक्ष्मी के धाम; शङ्ख—शंख; चक्र—सुदर्शन चक्र; गदा—गदा; पद्म—कमल; वन-माला—तथा जंगली फूलों की माला से; विभूषितम्—अलंकृत; नूपुरैः—घुंघरुओं तथा पायजेबों से; विलसत्—चमकते हुए; पादम्—चरणकमल; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि के; प्रभया—तेज से; युतम्—युक्त; द्युमत्—चमकता; किरीट—मुकुट; कटक—सुनहले बाजूबन्द; कटि-सूत्र—करधनी; अङ्गद—बाजूबन्द; आयुतम्—से युक्त; सर्व-अङ्ग—शरीर के सारे अंग; सुन्दरम्—सुन्दर; हृद्यम्—मनोहर; प्रसाद—कृपा से; सुमुख—हँसीला; ईक्षणम्—चितवन; सु-कुमारम्—अत्यन्त नाजुक; अभिध्यायेत्—ध्यान करे; सर्व-अङ्गेषु—शरीर के सारे अंगों में; मनः—मन को; दधत्—रखते हुए; इन्द्रियाणि—भौतिक इन्द्रियों को; इन्द्रिय-अर्थेभ्यः—इन्द्रिय-विषयों से; मनसा—मन से; आकृष्य—पीछे खींच कर; तत्—वह; मनः—मन; बुद्ध्या—बुद्धि से; सारथिना—रथ के सारथी की-सी; धीरः—गम्भीर तथा संयमित होकर; प्रणयेत्—प्रबलतापूर्वक आगे बढ़े; मयि—मुझमें; सर्वतः—शरीर के सारे अंगों में।

आँखों को अधखुली रखते हुए तथा उन्हें अपनी नाक के सिरे पर स्थिर करके, अत्यन्त जागरूक रह कर, मनुष्य को हृदय के भीतर स्थित कमल के फूल का ध्यान करना चाहिए। इस कमल के फूल में आठ पंखुड़ियाँ हैं और यह सीधे डंठल पर स्थित है। उसे सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि को उस कमल-पुष्प के कोश में एक-एक करके रखते हुए, उनका ध्यान करना चाहिए। अग्नि में मेरे दिव्य स्वरूप को स्थापित करते हुए, उसे समस्त ध्यान का शुभ लक्ष्य मान कर उसका ध्यान करना चाहिए। यह स्वरूप अत्यन्त समरूप, भद्र तथा प्रसन्न होता है। इसकी चार सुन्दर लम्बी भुजाएँ, सुहावनी सुन्दर गर्दन, सुन्दर मस्तक, शुद्ध हँसी तथा दोनों कानों में लटकने वाले मकराकृति के चमचमाते कुण्डल होते हैं। यह आध्यात्मिक स्वरूप वर्षा के मेघ की भाँति श्यामल रंग वाला है और सुनहले-पीले रेशम से आवृत है। इस रूप के वक्षस्थल पर श्रीवत्स तथा लक्ष्मी का आवास है और यह स्वरूप शंख, चक्र, गदा, कमल-पुष्प तथा जंगली फूलों की माला से सुसज्जित है। इसके दो चमकीले चरणकमल घुंघरुओं तथा पायजेबों से विभूषित हैं और इस रूप से कौस्तुभ मणि के साथ ही तेजवान मुकुट भी प्रकट होता है। इसके कूल्हे सुनहली करधनी से सुन्दर लगते हैं और भुजाएँ मूल्यवान बाजूबन्दों से सज्जित हैं। इस सुन्दर रूप के सभी अंग हृदय को मोहने वाले हैं और इसका मुखड़ा दयामय चितवन से सुशोभित है। मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रिय-विषयों से इन्द्रियों को पीछे हटाकर, गम्भीर तथा आत्मसंयमी बने और मेरे दिव्य शरीर के सारे अंगों पर मन को दृढ़ता से स्थिर करने के लिए बुद्धि का उपयोग

करे। इस तरह उसे मेरे अत्यन्त मृदुल दिव्य स्वरूप का ध्यान करना चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर उद्धव के उस प्रश्न का उत्तर देते हैं, जो मुमुक्षुओं के लिए ध्यान की सही विधि, उसके स्वभाव तथा लक्ष्य से सम्बन्धित है।

तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत् ।

नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; सर्व—शरीर के सारे भागों में; व्यापकम्—फैली; चित्तम्—चेतना; आकृष्य—खींच कर; एकत्र—एक स्थान पर; धारयेत्—एकाग्र करे; न—नहीं; अन्यानि—शरीर के अन्य अंगों को; चिन्तयेत्—ध्यानकरे; भूयः—फिर; सु-स्मितम्—अद्भुत मुस्कान या हँसी से युक्त; भावयेत्—एकाग्र करे; मुखम्—मुँह पर।

तब वह अपनी चेतना को दिव्य शरीर के समस्त अंगों से हटा ले। उस समय उसे भगवान् के अद्भुत हँसी से युक्त मुख का ही ध्यान करना चाहिए।

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् ।

तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तत्र—भगवान् के मुख का ध्यान करते हुए; लब्ध-पदम्—स्थापित होकर; चित्तम्—चेतना; आकृष्य—खींच कर; व्योम्नि—आकाश में; धारयेत्—ध्यान करे; तत्—आकाश का ऐसा ध्यान; च—भी; त्यक्त्वा—त्याग कर; मत्—मुझ तक; आरोहः—चढ़ कर; न—नहीं; किञ्चित्—कुछ; अपि—भी; चिन्तयेत्—चिन्तन करे।

भगवान् के मुख का ध्यान करते हुए, उसे चाहिए कि वह अपनी चेतना को हटाकर उसे आकाश में स्थिर करे। तब ऐसे ध्यान को त्याग कर, वह मुझमें स्थिर हो जाय और ध्यान-विधि का सर्वथा परित्याग कर दे।

तात्पर्य : शुद्ध चेतना को प्राप्त होने पर “मैं ध्यान कर रहा हूँ और यह मेरे ध्यान का लक्ष्य है” जैसा द्वैत समाप्त हो जाता है और मनुष्य का भगवान् से रागानुग सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। प्रत्येक जीव मूलतः भगवान् का भिन्नांश है और जब वह विस्मृत नित्य सम्बन्ध पुनः ताजा हो जाता है, तो परब्रह्म की स्मृति आ जाती है। उस अवस्था में, जिसे *मद्-आरोहः* कहा गया है, मनुष्य न तो अपने को ध्यान करने वाला, न ही भगवान् को ध्यान का लक्ष्य देखता है, अपितु वह भगवान् के प्रत्यक्ष प्रेम-सम्बन्ध में सच्चिदानन्द व्योम में प्रवेश करता है।

उद्धव ने पहले मुमुक्षुओं के लिए ध्यान की विधि के विषय में पूछा था। *लब्ध-पदम्* शब्द सूचित

करता है कि जब मनुष्य भगवान् के मुख पर अपना मन स्थिर कर देता है, तो उसे पूर्ण मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष के बाद वह आदि भगवान् की सेवा करने चला जाता है। ध्यानी होने के विचार को त्याग कर, मनुष्य रही सही माया को उतार फेंकता है और भगवान् का यथारूप में दर्शन करता है।

एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि ।

विचष्टे मयि सर्वात्मन्य्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; समाहित—पूर्णतया स्थिर; मतिः—चेतना; माम्—मुझको; एव—निस्सन्देह; आत्मानम्—आत्मा; आत्मनि—आत्मा के भीतर; विचष्टे—देखता है; मयि—मुझमें; सर्व-आत्मन्—भगवान् में; ज्योतिः—सूर्य की किरणों; ज्योतिषि—सूर्य के भीतर; संयुतम्—संयुक्त।

जिसने अपने मन को मुझमें पूरी तरह स्थिर कर लिया है उसे चाहिए कि अपनी आत्मा के भीतर मुझ भगवान् को देखे और व्यष्टि आत्मा को मेरे भीतर देखे। इस तरह वह आत्माओं को परमात्मा से संयुक्त देखता है, जिस तरह सूर्य की किरणों को सूर्य से पूर्णतया संयुक्त देखा जाता है।

तात्पर्य : आध्यात्मिक जगत में हर वस्तु में स्वाभाविक तेज रहता है क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है। अतएव जब आत्मा को परमेश्वर के भिन्नांश के रूप में देखा जाता है, तो इस अनुभव की तुलना सूर्य से निकलने वाली किरणों के देखने से की जा सकती है। परमेश्वर जीव के भीतर रहता है और जीव परमेश्वर के भीतर। किन्तु दोनों ही दशा में जीव नहीं अपितु परमेश्वर ही पालक तथा नियन्ता होता है। यदि लोग कृष्णभावनामृत स्वीकार कर लें और भगवान् कृष्ण को हर जीव के भीतर तथा हर जीव को कृष्ण के भीतर देखें तो प्रत्येक व्यक्ति कितना सुखी हो जाय! कृष्णभावनामृत होने पर मुक्त जीवन कितना सुखद है! ऐसी चेतना के बिना रहना सबसे बड़ा दुर्भाग्य होगा। श्रीकृष्ण यहाँ पर कई प्रकार से कृष्णभावनामृत की श्रेष्ठता का बखान कर रहे हैं और भाग्यशाली लोग ही भगवान् के सन्देश को समझेंगे।

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।

संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्य ज्ञानक्रियाभ्रमः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ध्यानेन—ध्यान से; इत्थम्—जैसाकि बतलाया गया; सु-तीव्रेण—अत्यन्त एकाग्र; युञ्जतः—अभ्यास करने वाले; योगिनः—योगी का; मनः—मन; संयास्यति—एकसाथ जायेगा; आशु—तेजी से; निर्वाणम्—अन्त के लिए; द्रव्य-ज्ञान-क्रिया—भौतिक वस्तुओं की अनुभूति, ज्ञान तथा कर्म पर आधारित; भ्रमः—भ्रम, मायामय पहचान।

जब योगी इस तरह अत्यधिक एकाग्र ध्यान से अपने मन को अपने वश में करता है, तो भौतिक वस्तुओं, ज्ञान तथा कर्म से उसकी भ्रामक पहचान तुरन्त समाप्त हो जाती है।

तात्पर्य : झूठी भौतिक पहचान के कारण ही, हम अपने शरीर तथा मन, अन्यो के शरीरों तथा मनो एवं दैवी भौतिक नियंत्रण को परम वास्तविकता स्वीकार करते हैं। दैवी नियंत्रण सूचक है देवताओं के शरीरों तथा मनो का जो अन्ततोगत्वा भगवान् के विनीत सेवक होते हैं। यहाँ तक कि महान् शक्तियों का प्रदर्शन करने वाला बलशाली सूर्य भी भगवान् कृष्ण के आदेश का पालन करते हुए अपने मार्ग पर चलता है।

इस अध्याय में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि हठ-योग, कर्म-योग, राज-योग इत्यादि का जो भक्तियोग के अंश हैं, पृथक् अस्तित्व नहीं होता। जीवन का लक्ष्य भगवान् कृष्ण हैं अतः जो व्यक्ति ध्यान या योगाभ्यास को पूरा करना चाहता है उसे शुद्ध भक्ति-पद तक पहुँचना होगा। भक्ति की परिपक्वावस्था में मनुष्य ध्यानकर्ता तथा ध्यान की वस्तु के कृत्रिम द्वैत से मुक्त हो सकता है जैसाकि इस अध्याय में बताया गया है और तब वह तुरन्त परब्रह्म के श्रवण तथा यशोगान में प्रवृत्त हो जाता है। भक्तियोग के ऐसे कार्य स्वाभाविक हैं क्योंकि उनका उदय रागानुग प्रेम से होता है। जब मनुष्य भगवान् के प्रिय सेवक होने की मूल प्रकृति को प्राप्त कर लेता है, तो योग की अन्य विधियाँ नहीं रुचतीं। भगवान् द्वारा उपदेश दिये जाने के पूर्व भी उद्धव शुद्ध भक्त थे अतएव उद्धव से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे भगवान् से अपनी निजी संगति के परम पद को छोड़ कर योगाभ्यास में जुट जायेंगे। भक्तियोग प्रारम्भिक अवस्था से ही इतना उच्च होता है कि मनुष्य मुक्त माना जाता है क्योंकि सारे कार्य कृष्ण की तुष्टि के लिए सुनियोजित ढंग से सम्पन्न किये जाते हैं। हठ-योग में शारीरिक नियंत्रण की चिन्ता रहती है और ज्ञानयोग में मनोधर्मी ज्ञान की। इन दोनों विधियों में मनुष्य का प्रयत्न स्वार्थपूर्ण होता है क्योंकि मनुष्य महान् योगी या दार्शनिक बनने की कामना करता है। इस श्लोक में ऐसे अहंकारयुक्त कार्यों को ही क्रिया कहा गया है। मनुष्य को द्रव्य, ज्ञान तथा क्रिया की भ्रामक उपाधियाँ त्याग कर भगवान् की प्रेमाभक्ति की निरहंकार अवस्था को प्राप्त होना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत “भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव से योग-

वर्णन'' नामक चौदहवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।